

सुगत-शासन में 'अहिंसा'

प्रो० उमा शंकर व्यास

यद्यपि 'अहिंसा' शब्द तथा इसमें अन्तर्निहित आशय अति प्राचीनकाल से ही ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन चिन्तन-धाराओं में प्राप्त हैं तथापि इन तीनों में समानता की अपेक्षा दृष्टिवैचित्र्य-जनित वैषम्य ही अधिक दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण धर्म की अद्वैतवादी तथा ज्ञानमार्गी शाखाओं में 'अहिंसा' सत्त्व-मात्र में ऐकात्म्य पर आधारित है जबकि ईश्वरवादियों ने समस्त प्राणियों को आराध्य प्रभु का निर्माण तथा उस परम कारुणिक की ही अभिव्यक्ति मानते हुए उन सभी के प्रति अविहिंसन तथा अपीडन को ही प्रभु की परमोपासना माना है।

जैन-धर्म में तो 'अहिंसा' का अतिशीर्षस्थानीय महत्त्व है। यहां 'अहिंसा' आध्यात्मिक साधना के परमलक्ष्य की ओर ले जाने वाला महत्वपूर्ण उपाय तो है ही, साथ ही पारमार्थिक आशय में तो उपेय भी। जैन-धर्म की यह अतिविशिष्ट धारणा उनके इस विशिष्ट तत्त्व-विमर्श पर आधारित है कि यह जगत् 'जीव' एवं 'अजीव' इन दो मूलभूत तत्त्वों से समन्वित है। न केवल चेतन अपितु कन्द, मूल एवं फलों जैसे अचेतन भी जीव होने से जैन-धर्म की अहिंसा की अति-व्यापक परिधि में आ जाते हैं। साथ ही जैन-दर्शन का विशिष्ट कर्म-सिद्धान्त भी उनकी आचार-मीमांसा-विशेषतया 'अहिंसा'—की अवधारणा की विशिष्टता के लिए उत्तरदायी है। बौद्धों में 'कर्म' का तात्पर्य मानसिक चेतना या चित्तगत वासना है जोकि कार्य-कारण भाव के रूप में सुख या दुःख का हेतु बनती है। फलस्वरूप बौद्धों में किसी सचेतन क्रिया को ही 'कर्म' माना गया। दूसरी ओर जैन-दर्शन में 'कर्म' एक सर्वथा स्वतंत्र तत्त्व है। यह 'अजीव' द्रव्य है जोकि अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध (राशि) है। स्वभावतः विशुद्धस्वरूप वाली आत्मा कर्म के योग द्वारा ही बन्धनग्रस्त होती है। जैन साधना का अन्तिम लक्ष्य कर्मों के 'आस्रव' का क्षय तथा निर्जरात्व की प्राप्ति है। जहां सामान्य कृत्य साम्प्रदायिक है वहीं सम्यक्-चारित्र्य द्वारा प्रभावित कर्म ईर्या-पथ हैं। वस्तुतः जैन आचार-मीमांसा एवं तप का एकमात्र लक्ष्य अभिनव कर्मों के उदय को रोकना तथा सञ्चित कर्मों का क्षय है। इस प्रकार जैन-धर्म में 'अहिंसा' उनके कर्म-सिद्धान्त की विशिष्टता के कारण ही सर्वथा स्वतन्त्र स्वरूप के साथ प्रतिष्ठित हुई है। यही कारण है कि जहां बौद्धों में केवल जानबूझकर की गई पर-पीड़न-क्रिया ही 'हिंसा' होती है—जैनों में (कम-से-कम प्रायोगिक स्तर में) किसी भी तरह का प्राणातिपात 'हिंसा' कर्म बन जाता है।

इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि जैन-धर्मानुयायी गृहस्थों तथा जैन-संघ के मध्य अति प्राचीनकाल से जिस प्रकार के निकट-तम सम्बन्ध रहे हैं वैसे संभवतः बौद्ध उपासकों एवं बौद्ध संघ के मध्य कभी भी नहीं थे। फलस्वरूप 'अहिंसा' आदि व्रतों के अनुष्ठान के सन्दर्भ में गृही जैनों एवं मुनियों के मध्य जो अन्तर है वह मात्र गुणात्मकता का है, प्रकार का नहीं। अणु-व्रत के रूप में इनका अनुष्ठान एक प्रकार से विरक्त जीवन में प्रवेश का पूर्वाभ्यास-सा है। तीन गुणव्रतों तथा चार शिक्षाव्रतों के ग्रहण की व्यवस्था इसी तथ्य की ओर इंगित करती प्रतीत होती है। दूसरी ओर, बौद्ध उपासकों एवं भिक्षु-संघ के मध्य किसी अतिसुस्पष्ट एवं प्रगाढ़ सम्बन्धों के अभाव में गृहस्थ बौद्धों में व्यावहारिक तौर पर 'अहिंसा' का अवतरण प्रभावशाली रूप से नहीं हो सका। जहां बिना किसी अपवाद के समस्त जैन गृहस्थ शाकाहारी हैं, वहीं सम्प्रति बौद्ध उपासकों का बहुमत प्रायशः मांसाहारी है।

एक अन्य तथ्य दोनों धर्मों के प्रवर्तकों के मौलिक दृष्टिकोण में पाया जाने वाला अन्तर भी है। भगवान् महावीर उग्र तपश्चर्या एवं विशुद्ध चारित्र्य के प्रबल पक्षधर थे तथा इन मामलों में किसी भी प्रकार की शिथिलता के सर्वथा विरुद्ध थे। फलस्वरूप किसी भी जैन के लिए 'मांसाहार' तो क्या, कभी-कभी तो कुछ विशेष प्रकार के कन्दों एवं मूलों तक के भक्षण की कल्पना भी अशक्य है। दूसरी ओर शाक्यमुनि बुद्ध ने तत्त्वज्ञान, प्रमाण एवं आचार आदि सभी पक्षों को मध्यम-प्रतिपदा की कसौटी पर परखा, उग्र तपश्चर्या को एक अन्त उद्घोषित किया एवं प्रज्ञा तथा करुणा को ही 'आत्मोद्धरण' का एकमात्र मार्ग बतलाया। फलस्वरूप बौद्ध-संघ को उन्होंने तीन कोटियों से

परिशुद्ध मत्स्य एवं मांस-भक्षण तक की स्वीकृति दी।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि 'ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध—इन तीनों परम्पराओं की पृथक्-पृथक् पृष्ठभूमियों ने उनके 'अहिंसा' सम्बन्धी दृष्टिकोणों को पूर्णतया प्रभावित किया है, जिससे प्रत्येक की अवधारणाओं का अपना वैशिष्ट्य है। प्रस्तुत में 'बौद्ध-धर्म' में 'अहिंसा' के विशिष्टस्वरूप का प्रतिपादन अभीष्ट होने से उसे ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

बौद्ध-धर्म में 'अहिंसा' —स्थविरवादियों द्वारा मूल बुद्ध-वचन रूप में उद्धोषित पालि-त्रिपिटक तथा परवर्ती बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन के आधार पर 'अहिंसा' की अवधारणा का विश्लेषण निम्न दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(अ) 'अहिंसा' एक चित्त-धर्म (चेतस्) के रूप में, तथा (आ) 'अहिंसा' एक 'शील' के रूप में।

पालि-अभिधम्म (तत्त्व-मीमांसा) में चित्त, चेतसिक, रूप तथा निब्बाण को परमत्थधम्म माना गया है। चेतसिक का उदय एवं निरोध चित्त के ही साथ होता है। इनका आलम्बन भी वही होता है जो चित्त का। किन्तु थेरवाद में परिगणित ५२ प्रकार के चेतसिकों में 'अहिंसा' नाम का कोई स्वतन्त्र धर्म परिगणित नहीं है तथा यह भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है कि इसे किस 'कुशल' चेतसिक में अन्तर्भूत किया जाए, फिर भी 'अहिंसा' को 'अदोसो' (अद्वेष) नामक कुशल चेतसिक के समुत्थान का ही प्रतिफल माना जा सकता है।

सर्वास्तिवादियों का अभिधर्म-साहित्य अतिविस्तृत है जिसके अधिकतम भाग संस्कृत में विलुप्त, पर चीनी भाषा में अभी तक प्राप्य हैं। यहां 'अहिंसा' को एक स्वतन्त्र चेतसिक माना गया है जिसके उदय से कायिक-कर्म के रूप में 'अहिंसा' का आचरण संभव होता है।^१ 'विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि-प्रकरण' में स्थिरमति ने 'अहिंसा' के कायिक व्यवहार का समुत्थान 'करुणा' नामक चेतसिक के उदय से माना है।^२ उन्होंने 'करुणा' या 'अनुकम्पा' नामक चित्तधर्म पर 'अहिंसा' के पुण्यमय आचरण को आधारित बतलाया है। दूसरी ओर धर्मपाल नामक एक अन्य विज्ञानवादी आचार्य के अनुसार 'अद्वेष' ही वह चित्त-धर्म है जिसके कारण 'अहिंसा' का प्रयोग संभव होता है। द्वेषनामक चित्त-धर्म का उदय चित्त में होने पर आलम्बनभूत पदार्थ जीव के विहिंसन का कृत्य विज्ञापित होता है जबकि इसके प्रतिपक्षीभूत 'अद्वेष' चित्त-धर्म के अम्युत्थान से उक्त पदार्थ का अविहिंसन।

इस प्रकार 'अहिंसा' के इस प्राचीन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि 'अहिंसा' के प्रयोग का मनो-वैज्ञानिक आधार प्राणि-मात्र के प्रति करुणा एवं मैत्री के वे उदात्तभाव हैं जिनसे उद्वेलित हो स्वयं शाक्यमुनि बुद्ध ने पहले तो व्यक्तिगत वैभवों को तिलाञ्जलि दी, महाभिनिष्क्रमण किया तथा सम्बोधि प्राप्ति के अनन्तर अस्सी वर्ष की आयु तक बहुजनहिताय नाना निगमों एवं जनपदों में चारिका का चरण किया। धम्मपद^३ में प्राणिघात से विरत रहने का उपदेश देते हुए यह कहा है कि "सभी मृत्यु से डरते हैं, सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, अतः दूसरों की पीड़ा को स्वयं अपनी पीड़ा समझते हुए न उन्हें मारो, न इसके लिए दूसरों को प्रेरित करो।"

'करुणा' एवं 'मैत्री' के अतिरिक्त, 'ही' (लज्जा) एवं अपवाप्य नामक चित्त-धर्म भी 'अहिंसा' की प्रायोगिक दशा की मानसिक पृष्ठभूमि हैं, क्योंकि प्राणि-विहिंसनकृत्य में जो क्रूरता है उसकी परिणति 'ही' आदि में भी हो सकती है।

'सामञ्जफलसुत्त' में चुल्लसीलों के व्याख्यान-क्रम में भी 'अहिंसा' के प्रयोग के मानसिक हेतु के रूप में दया-हितानुकम्पा एवं लज्जा को ही बतलाया गया है।^४

तात्पर्य यह है कि 'अहिंसा' का जो व्यावहारिक प्रयोग है वह तभी संभव है जब इसके आन्तरिक हेतु के रूप में हमारे चित्त में अनु-कम्पा, अद्वेष या लज्जा विद्यमान रहेगी। साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि 'अहिंसा' बौद्ध-विचार में एक शोभन कृत्य है। यह किसी कृत्य का विषय न होकर स्वयं ही कृत्य रूप में स्वान्तः-सुख का आधान कराने वाली है। इसके विपरीत, द्वेषचित्त वाला व्यक्ति वस्तुतः स्वयं अपना ही अपकार करता है। धम्मपद^५ की यह उक्ति इसी तथ्य का संकेत कराती है :—“न हि वेरेण वेराणि सम्मन्तोह कदाचन।”

इन सभी तथा एतत्सदृश अन्य स्थलों के देखने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि 'अहिंसा' वस्तुतः बौद्ध शब्दावली में 'मेत्ता-भावना' का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अहिंसा मात्र-प्राणिघात से विरति के रूप में निषेधात्मक तथ्य ही न होकर, करुणा एवं मेत्ता के रूप में एक सर्वथा भावात्मक (Positive) धर्म भी है।

किन्तु आध्यात्मिक प्रगति के क्रम में एक ऐसी स्थिति भी आती है जब कि 'अहिंसा' 'मेत्ता अप्पमञ्चा' नामक चित्त-स्थिति में विलीन हो जाती है। समस्त सत्त्व सुखी, शान्त एवं कुशली हों, इस प्रकार की इच्छा करते हुए अपरिमेय प्राणियों के प्रति अनुकम्पा जागृत

१. ताइसो संस्करण में चीनी तिपिटक भाग, ५-२६ पृ० १६ ब,

२. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पृ० २८,

३. धम्मपद, ५.१२६,

४. सामञ्जफल सुत्त,

५. धम्मपद, १-७,

करके जब मेत्ता-भावना में समस्त सत्त्वों का अन्तर्भाव कर लिया जाता है तब यह विशिष्ट चित्त-स्थिति उत्पन्न होती है। मेत्ता द्वारा 'अहिंसा' के हेतुभूत चित्त का विलयन भी विमुक्ति-चित्त में हो जाता है (मेत्ता-चेतो-विमुक्ति), और इस प्रकार मैत्री-भावना के विकास द्वारा चित्त की विमुक्ति हो जाती है। कहने का तात्पर्य यही है कि 'अहिंसा' का प्रयोग मेत्ता-चित्त के विकास में अत्यन्त उपादेय है। वस्तुतः यह ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा साधक मेत्ता-चित्त का विकास करते हुए आध्यात्मिक-यात्रा के अन्तिम पड़ाव तक पहुँच सकता है। 'अहिंसा' के चित्त-विशुद्धि के सन्दर्भ में इस प्रकार की उपादेयता के कारण ही संभवतः अष्टांगिक मार्ग के सम्माकम्मान्त के रूप में^१ दस प्रकार के कुसल कम्मपथों में से प्रथम कम्म-पथ के रूप में,^२ तथा सिगालिक^३ के उपदेश देने के क्रम में अनेक प्रकार से 'अहिंसा' का उपदेश प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म के पालि-साहित्य में किया गया है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक व्याख्यान के अतिरिक्त 'शील' के रूप में भी बौद्ध-विनय में 'अहिंसा' का निर्वचन किया गया है। उपासकों के लिए उपदिष्ट पञ्चशीलों तथा सामणेरों के लिए निर्दिष्ट दस शीलों में 'प्राणातिपात से विरति' को सभी शीलों में स्थूलतम या चुल्लशील होने से सर्वप्रथम रखा गया है। अतिव्यापक आशय वाले 'अहिंसा' तत्त्व के लिए इस सन्दर्भ में "प्राणातिपाता वेरमणी", या 'प्राणातिपाता पडिविरति' इन दो अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया गया है।

बौद्ध-चिन्तन में चेतना ही 'कम्म' है, इस आधार पर तथा 'शील' शब्द के विशिष्ट निर्वचन के आधार पर भी बौद्ध-विनय में 'विरति' (वेरमणी) या 'पडिविरति' के कृत्यों में बलवती चेतना या प्रगाढ़तम में संकल्प का होना पूर्ववश्यकता माना गया है। "प्राणातिपाता वेरमणी" या "मैं प्राणातिपात से विरत रहूँगा" इस कथन द्वारा विरति-व्रत का शीलत्व तभी प्रतिष्ठापित होता है जबकि व्रत लेने वाला व्यक्ति इस विरति के प्रति सतत जागरूकता आदि सम्यक्-रूपेण उपार्जित कर लेता है। दूसरे शब्दों में 'अहिंसा' (प्राणातिपात-विरति) 'शील' का रूप तभी ग्रहण कर सकती है जबकि इसका ग्रहण एवं आचरण चेतनापूर्वक किया गया हो। अतएव शिशु का प्राणातिपात-विरति-व्यापार या पारिवारिक पृष्ठभूमि आदि के कारण किसी व्यक्ति का मांसाहार आदि न करने का आचरण 'शील' नहीं कहला सकता क्योंकि इन दोनों ही उदाहरणों में प्राणातिपात-विरति चेतनापूर्वक नहीं है।

'शील' का निर्वचन ठीक इसी आशय में 'विसुद्धिमग्गो'^४ नामक प्रकरण में आचार्य बुद्धघोष द्वारा किया गया है। उन्होंने इसे चरिया के परिपूरण का सुदृढ़ संकल्प, बुद्ध के उपदेशों पर चलने का अन्तर्गत प्रयास तथा इस प्रयास द्वारा विमुक्ति की प्राप्ति की अभिनीहार वाली चेतना बतलाया है। इस बलवती चेतना के साथ जब किसी शोभन-कृत्य का आचरण किया जाता है, तभी वह कृत्य 'शील' बनता है। अतः जब इस प्रकार की चेतना के साथ 'प्राणातिपात-विरति' (अहिंसा) का कृत्य हो तभी वह 'शील' कहलाएगा।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्ध-धर्म के अति प्रारम्भिक काल से ही आध्यात्मिक प्रगति का विनियमन शील, समाधि एवं प्रज्ञा की त्रिविध शिक्षाओं द्वारा किया जाता रहा है। परस्पर में पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट होने पर भी ये एक दूसरे की पूरक हैं। फिर भी 'शील' तो ऐसी आधार-भूति ही है जिस पर साधक अपनी आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा का सुललित प्रासाद प्रतिष्ठापित कर सकता है। अतएव "प्राणातिपात वेरमणी" इस शिक्षा पद की उपर्युक्त पृष्ठभूमि द्वारा यहां 'अहिंसा' का ग्रहण समर्थित है जबकि इसका आचरण उपर्युक्त पद के साथ उदित सुदृढ़ चेतना के फलस्वरूप किया जाता है।

अवधारणा एवं वास्तविक प्रयोग में अन्तर—

'अहिंसा' का वास्तविक तात्पर्य इस जगत् की यथार्थता का सम्यक् अवगाहन किए बिना ग्रहण किया जाना सम्भव नहीं दिखता। अर्थात् इस विरोधाभास-ग्रस्त जगत् में 'अहिंसा' की अवधारणा का व्यावहारिक प्रयोग कठोरतापूर्वक अशक्य है। हमारा यह जीवन प्रतिपल प्रतिक्षण सहस्रों जीवाणुओं के श्वास-प्रश्वास में आने-जाने की प्रक्रियाओं का ही तो खेल है। यदि 'अहिंसा' की यथार्थ अवधारणा को व्यवहार में उतारना चाहें तो यह 'जीवन' ही सम्भव न रहेगा, अतः 'अहिंसा' के यथार्थ भाव की 'चित्त' द्वारा 'भावना' ही बुद्ध-धर्म में अभीप्सित है। सम्भवतः इसीलिए बुद्ध ने 'कर्म' (कायिक कर्म) के स्तर पर 'अहिंसा' के कठोर नियम नहीं बनाए। 'शील' एवं विनय के सन्दर्भ से उन्होंने अहिंसा-विषयक जो शिक्षापद उपासकों के लिए उपदिष्ट किया उसमें दो तथ्य अन्तर्भूत हैं—

(१) अहिंसा का संकल्प, तथा (२) व्यवहार में उसकी परिणति।

यदि उपासक ने प्राणातिपात-विरति का संकल्प तो ले लिया परन्तु वास्तविक जीवन में इसका सम्यक्-आचरण न हो सका तो विनय-नियमों के अनुसार उसे शुद्ध चित्त से इसके लिए पटिदेसना करनी होती है। परन्तु जिसने इसका संकल्प ही नहीं लिया यदि उससे

१. मज्झिम, ३ पृ० २५१,

२. दीघ, ३ पृ० २६६,

३. दीघ, ३ पृ० १८१ इत्यादि.

४. विसुद्धिमग्गो, शीलखण्ड

प्राणातिपात हो जाता है तो उसे पतिदेसना नहीं करनी होती।

भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए जो प्रातिमोक्ष नियम हैं उनमें भी 'प्राणातिपात-विरति' का समावेश है। पाटिमोक्ख में पाराजिकों के तृतीय शिक्षापद में मनुष्यों के प्राणातिपात का निषेध है, जिसे करने पर पाराजिक होता है और अपराधी भिक्षु या भिक्षुणी का संघ से निष्कासन कर दिया जाता है। पर यह प्राणातिपात जान-बूझ कर किया गया होना चाहिए। यदि यह प्राणातिपात दुर्योग-वश या प्रमाद-वश हो गया हो जिसमें चेतना का योग नहीं है तब तो अपराधी को केवल दोष स्वीकरण मात्र करना होता है। इसी प्रकार चेतनापूर्वक किया गया पशु-पक्षियों का वध भी 'पाचित्तिय' नामक दोष बनता है जिसका शमन 'आपत्ति-देसना' करने पर ही होता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से तो प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में 'जीवन' का अत्युच्च मूल्य है तथा इसे समाप्त करना या पीड़ित करना सर्वथा वर्जित है फिर भी इसका आशय यह भी नहीं है कि बुद्ध ने सत्त्वों के जीवन-रक्षण की क्रिया को किसी कोटि या अन्त के स्तर पर प्रतिपादित किया है। देवदत्त बौद्ध-संघ में पंचवत्थुओं (पांच प्रकार के निषेधों) को लागू करना चाहते थे परन्तु बुद्ध ने इनके स्थान पर समाज द्वारा गृहीत दस प्रकार के मांस-भक्षण का निषेध किया। उन्होंने तो भिक्षुओं के लिए भी तीन कोटियों से परिशुद्ध मत्स्य एवं मांस के भक्षण का भी अनुमोदन किया।^१ किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि बुद्ध पशु-हिंसा के समर्थक थे। उन्होंने तो उन यज्ञों की कटु आलोचना की जिनमें पशु-बलि दी जाती थी। उनका तात्पर्य यही था कि किसी भी क्रिया में उसमें अन्तर्निहित आशय को देखना चाहिए, मात्र उसके बाह्यरूप को नहीं। दूसरे वे 'मध्यम-प्रतिपदा' के दृष्टिकोण से हर बात को देखते थे तथा अन्तों के परिवर्तन के प्रतिपादक थे। उनका प्राणातिपात-विरति-विषयक दृष्टिकोण भी इन्हीं तथ्यों पर आधारित समझा जाना चाहिए।

परवर्ती (महायान) बौद्ध-धर्म एवं 'अहिंसा'

महायान बौद्ध धर्म में 'अहिंसा' की अवधारणा एवं इसके व्यवहार को और भी विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया गया। यहां भी पांच, आठ तथा दस शिक्षापदों के अतिरिक्त दस कुशलकर्म-पथों के अन्तर्गत 'अहिंसा' को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। 'बोधिसत्त्व' की साधना का तो आधार ही 'अहिंसा' की उद्भाविका 'महा-करुणा' ही है। समस्त सर्वों के समस्त क्लेशों के उद्धारण का संकल्प ही बोधिसत्त्व की सारी साधनाओं के केन्द्र-बिन्दु में प्रतिष्ठित हुआ है।

महाप्रज्ञापारमिता^२ शास्त्र (चीनी भाषा में प्राप्त) में दस कुशल कर्मपथों के विवेचन-क्रम में यह कहा गया है कि "प्राणातिपात का पाप समस्त पापों में उग्रतम है तथा प्राणातिपात-विरति समस्त शोभन-कृत्यों में अग्रतम है।" इस शास्त्र में प्राणातिपात के पातक की गम्भीरता का विशद विवेचन है।

महायान के ब्रह्मजाल सूत्र^३ (चीनी भाषा में) में प्राणातिपात को १० प्रकार के पाराजिकों में पहला माना गया है तथा बोधिसत्त्व के लिए किसी भी प्रकार के मांस-भक्षण का निषेध किया गया है। महायान के ही महापरिनिर्वाण सूत्र में यह कहा गया है कि "मांस भक्षण तो वस्तुतः महाकरुणा के बीज को ही नष्ट कर देता है।" तथा "मैं अपने समस्त शिष्यों को मांस-भक्षण से विरत रहने का अनुज्ञानन करता हूँ।" 'लंकावतार सूत्र'^४ के अनुसार भी "बुद्धत्व के लिए अभिनीहार करने वाले बोधिसत्त्व भला किस प्रकार सत्त्वों के मांस का भक्षण कर सकते हैं।"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महायान में 'अहिंसा' का प्रायोगिक स्तर अतिविकसित स्वरूप को प्राप्त हुआ। 'बुद्धत्व' की अवधारणा का 'धर्मकाय' में रूपान्तरण होने से जब प्रत्येक सत्त्व बुद्धबीज से युक्त है तो उसका मांस-भक्षण कैसे हो, इस विचार का विकास हुआ। जापान एवं चीन के बौद्ध धर्मों पर इस तथ्य ने अत्यधिक प्रभावित किया। फलस्वरूप, जहां थेरवादी भिक्षुओं में मांसाहार का प्रचलन था वहीं महायान परम्परा के चीनी एवं कुछ समय पूर्व तक जापानी भिक्षुओं में इसका पूर्ण निषेध था। किन्तु मन्त्रयान एवं तन्त्रयान के कारण तिब्बत में वस्तु-स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई।

जो भी हो, बौद्ध धर्म में अपने विशिष्ट कर्म सिद्धान्त के कारण 'अहिंसा' का उपर्युल्लिखित विशिष्ट सिद्धान्त प्रतिष्ठापित हुआ जा जैन-धर्म में प्रतिपादित 'अहिंसा' की अवधारणा से वैषम्य ही अधिक दरसाता है। विशेषतया इन दोनों धर्मों के अनुयायियों के मध्य इसका जो वास्तविक प्रयोग है उसमें तो विशेषतः अन्तर के दर्शन होते हैं।

१. विनय ४, पृ० १८-२०, सुत्त निपात पृ० २०२ इत्यादि

२. सु० नि० ३०७, दी० नि० १ पृ० १४२, ४३ इत्यादि

३. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म, भाग १ पृ० २८७ में अकिरा हिराकावा द्वारा उद्धृत

४. वही.

५. लंकावतार सूत्र पृ० ४२५ (टी. सुजुकी द्वारा संपादित)